दलित-साहित्य का विधागत विमर्श

राजकुमार
सहायक प्राध्यापक, हिन्दी
शासकीय स्वशासी कन्या स्नातकोत्तर उत्कृष्टता महाविद्यालय, सागर (म.प्र.)

सारांश -

मनुष्य जब से चेतना सम्पन्न हुआ है, भाषा का आधार ग्रहण किया है, तब से उसने अपने विचार प्रसारित एवं प्रकाशित करना प्रारम्भ कर दिया है। सैंधव सभ्यता पश्चात् विशाल भारत आर्यों के सैनिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक प्रभाव में संचालित रहा। आर्यों की उक्त व्यवस्थागत प्रणालियों से इस देश का मूलवासी दासत्व और अभावग्रस्तता का जीवन जीने के लिए मजबूर हुआ। वह शूद्र, अतिशूद्र, अस्पृश्य, चाण्डाल आदि भेदक और अमानवीय श्रेणियों में आर्यों की कूटनीति से विभाजित हुआ। इन अधिकारहीन निम्नवर्गों को सामाजिक और धार्मिक समानता के उद्देश्य से पहली बार ऊपर उठाने का प्रयास गौतम बुद्ध ने किया, जिसे असफल करने का रणनीतिक प्रयास शुंगकाल में मनुस्मृति से प्रारंभ हुआ जो वर्तमान तक सक्रिय है। समाजीकरण और संस्कृतिकरण की अवस्था से गुजरने के पश्चात् शूद्र, अतिशूद्र और अस्पृश्यों को पिछड़े, दलित, हरिजन, आदिवासी, मूलवासी आदि वैचारिक और राजनीतिक तथा सामाजिक शब्दावली से अभिहित किया जाने लगा है। दलित समूहों में उत्थान एवं विकास (सामाजिक, शैक्षणिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक) के लिए समय-समय पर बुद्ध के पश्चात् कबीर, रैदास, ज्योतिबा फुले, सावित्रीबाई फुले, डॉ. भीमराव अम्बेडकर, स्वामी अछूतानन्द, हीरा डोम ने दलित कथा-व्यथा को अपनी सामर्थ्यानुसार भरपूर योगदान किया है। स्वतंत्र भारत में नब्बे के दशक से तीव्रगति से दलित-साहित्य का विकास एवं विस्तार हुआ है। इस समय से लेकर वर्तमान तक कविता, कहानी, उपन्यास, आत्मकथा, आलोचना आदि विविध साहित्यिक विधाओं में दलित और गैर-दलित-साहित्यकारों ने अपना कार्य सम्पादन किया है।

मुख्य शब्द - दलित साहित्य, वर्ण व्यवस्था, नवजागरण।

दलित-साहित्य और गैर-दलित-साहित्य में वैचारिक संघर्ष सनातन काल से वर्तमान तक विद्यमान है। इस संघर्ष का मूल कारण है- ज्ञान, शक्ति और मानवता। भारत के ब्राह्मण समुदाय ने क्षत्रिय और वैश्य जैसे सवर्णीय समुदाय से गोपन संधि कर ली थी, जिसकी शर्तानुसार ज्ञान के समस्त क्षेत्रों में एकाधिकार ब्राह्मण, पुरोहित और गुरु का था। शक्ति-सम्प्रभुता क्षत्रिय, सामन्त या राजा के हाथ में थी तथा आर्थिक संसाधनों पर वैश्य और सछूत सवल शूद्रों का अधिकार स्वीकार किया गया था। अतिशूद्र, दलित, अस्पृश्य, आदिवासी उक्त शासकों के सेवक, दास, अनुचर मात्र थे, जिन्हें अपनी मर्जी से उदर-पोषण तक का अधिकार वर्जित था। इस विभेदनकारी, विघटनकारी, समाजोच्छेदक व्यवस्था ने दलित समुदाय को आर-पार के संघर्ष हेतु प्रेरित किया। परिणामतः दलित समुदाय में जन्मे और गैर-दलित

समुदाय के समानताधर्मी विचारकों, लेखकों, समाज-सेवियों, राजनीतिज्ञों ने उस संघर्ष को तीव्र किया, जिससे मानवीय समानता और सम्मान का अहसास वंचकों को हुआ। तत्पश्चात् दलितलेखन ने अम्बेडकरवादी, फुलेवादी, बुद्धवादी, कबीरवादी विचारधाराओं को आधार मानकर, लोकतांत्रिक और बौद्धिक दायरे में पुरातनपंथी, पुराणपंथी, स्मृत्याधृत अपमानित अनुशासनों को शिरे से तार्किक ढंग से नकारना आरंभ किया, और साथ ही ऐसे साहित्य का सृजन किया जो भोगे हुए यथार्थ को उद्घाटित करता हो। निःसंदेह वर्तमान दलित-साहित्य परम्परागत ब्राह्मणवादी, हिन्दूवादी, अभिजात्यवादी, अलगाववादी साहित्य की वैचारिक भर्त्सना करता है और बदले में तर्कसंगत, लोकतांत्रिक, मानवीय समतावादी, कारूणिक और सम्यक् साहित्य की सर्जना करता है; जिसमें पुरातन और वर्तमान व्यवस्थाओं के प्रति आक्रोश और प्रतिरोध भी है।

स्वतंत्रतापूर्व और पश्चात् के गैरदलित-साहित्यकारों में सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, प्रेमचंद, राहुल सांकृत्यायन, नागार्जुन, मदन दीक्षित, मन्नू भण्डारी, अमृतलाल नागर, गिरिराज किशोर आदि ने दलितों को केन्द्र में रखकर साहित्य सृजन तो किया है, लेकिन प्रेमचंद के शिवाय दलित मानसिकता एवं व्यथा को अन्य साहित्यकार समझ नहीं पाये। आधुनिक समय के गैर-दलित-साहित्यकारों में राजेन्द्र यादव, मैनेजर पाण्डेय, चमनलाल, प्रेमकुमार मणि, वीरभारत तलवार, जगदीशचन्द्र आदि ने दलित जीवन का साहित्य रचा है; जिसे दलित-साहित्यकार, दलित विचारक दलितों का शुद्ध साहित्य स्वीकार नहीं करते हैं। वे उसे, दलित सहानुभूति का साहित्य स्वीकार करते हैं। दलित लेखक मानते हैं कि अमृतलाल नागर (नाच्यो बहुत गोपाल), नागार्जुन (हरिजन गाथा) में सहानुभूति के अतिरिक्त कुछ नहीं है, जबकि प्रेमचंद के साहित्य (सद्गति, ठाकुर का कुआँ, मंत्र, आहुति, कफ़न, गोदान) में दलित जीवन को बहुत ही निकट और सहृदयता से देखा गया है, परन्तु उनके साहित्य में भी वह आडम्बर, शास्त्र, राजनीति का विरोध परिलक्षित नहीं हुआ है, जिन्हें दलित-साहित्यकार आधारस्वरूप मानता है। हालाँकि आत्मकथा 'मुर्दहिया' के लेखक तुलसीराम मानते हैं कि "आत्मकथा को छोड़कर कोई गैर-दलित लेखक अन्य साहित्यिक विधाओं में दलित समाज का चित्रण करता है तो उसे दलित-साहित्य ही मानना चाहिए बशर्ते उसमें वर्ण प्रतिरोध की चेतना हो।"[1] वहीं दूसरी तरफ आत्मकथा (जूठन) लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि का मानना है कि "वर्णव्यवस्था से उपजी घोर अमानवीयता, स्वतंत्रता-समता-विरोधी सामाजिक अलगाव की पक्षधर सोच को परिवर्तित कर बदलाव की प्रक्रिया को तेज करना दलित-साहित्य की मूलभूत चेतना है।"

प्राचीनकाल में विचारक चार्वाक ने चार्वाक-दर्शन तथा महात्मा बुद्ध ने सम्यक्-दर्शन से उस विचार को आगे वढ़ाया जिसे आज का दलित-साहित्य प्रेरणा स्वरूप मानता है। कारण यह है कि उक्त विचारक द्वय ने तार्किकता और यथार्थवाद के नज़रिये से अपने विचार रखे, जिसमें मानव-मानव समान तथा प्राकृतिक नियमावली में समतुल्य है। वह तर्क और प्रकृति से भी समरूप है, जिसे तत्कालीन सम्भ्रान्त, कुलीन, शासक, जमींदार, ज्ञानी, पुरोहित, ब्राह्मण आदि ने तिरस्कृत और वहिष्कृत किया था। अर्थात् वह मनुष्य जिसे बुद्धि और शक्ति (संप्रभुता एवं अर्थ-सत्ता) ने दास वनाया, अधिकारविहीन किया, मानवेतर प्राणी (पशु-पक्षी से भी निकृष्ट) घोषित किया; और सदियों तक जिसे निरंतर दास (वुद्धि, धन, मान, योग्यता, धर्म, समाज) बनाया जाता रहा, आधुनिक समय में वही दलित कहलाया। ज्ञान और शक्ति के दासत्व से मुक्ति के मार्ग तलाशने के लिए यदा-कदा कुछ महापुरुषों ने संघर्ष किया है, समानता के विचार

दिये हैं, आडम्बरों, वेद-विहित तथा शास्त्र निहित निर्योग्यताओं का विरोध और बहिष्कार भी किया है; लेकिन अपेक्षित सफलता प्राप्त न हो सकी, क्योंकि अशिक्षा और भयातंक अधिक प्रबल थे। मध्यकाल में दलित-चेतना का प्रारंभ मराठी सन्तों-चोखामेला, नामदेव, एकनाथ, समर्थ रामदास आदि से माना जाता है। उत्तरभारत में भी सिद्धों-नाथों की वाणियों में सवर्ण-सत्ता-विरोध और दासत्व-निवारण के स्वर सुनाई पड़ते हैं। उन स्वरों को पुनः सन्त कबीर, सन्त रविदास, सेन, सदना, रज्जब और गरीबदास जैसे निर्गुणियाँ सन्तों ने गुंजायमान किया है। समानता और सद्भावना की मिशाल सिक्ख धर्म ने भी प्रस्तुत की है, जिसने अपने पवित्र ग्रंथ 'आदिग्रंथ' में दलित-सन्तों की समदर्शी वाणियों को स्थान दिया है और साथ ही उन पंचप्यारों से सिक्ख धर्म की नींव रखी जो भिन्न-भिन्न अस्पृश्य, वंचक जातियों का प्रतिनिधित्व करते थे।

दलित-साहित्य की अवधारणा वास्तव में दलित की अवधारणा से जुड़ी है। अरविन्द कुमार और कुसुमकुमार ने अपने 'हिन्दी थिसारस' में दलित शब्द के अनेक संदर्भ दिये हैं। शोपित, पराजित, दमित, विजित आदि अनेक नाम अस्पृश्य के लिए स्वीकृत हैं। पददलित, रौंदा, कुचला, दवाया हुआ, पदाक्रान्त एवं शूद्र, अतिशूद्र दलित के ही पर्याय हैं। माता प्रसाद ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी काव्य में दलित काव्यधारा' में दलित शब्द को चाण्डाल, अस्पृश्य, अछूत कहा है।[2] उपेक्षित, अपमानित, उत्पीड़ित, प्रताड़ित, गुलाम, भूमिहीन, वंधुआ आदि शब्द दलित संवेदना और भाव को ही व्यक्त करते हैं।[3] संस्कृत साहित्य में 'शूद्र' शब्द उन दलितों के लिए रूढ़ किया गया है, जिनके अपमान और प्रताड़ना का अधिकार समाज के शक्तिशाली वर्ग को प्राप्त थे। "वेदों, उपनिषदों और शंकराचार्य ने 'शूद्र' को जन्म से और निकृष्ट कर्मों के फल से जोड़कर शूद्र के नाम पर मनुष्यों की प्रताड़ना को एक दैवीय आधार प्रदान करने का प्रयास किया है। यही तर्कहीन विचार आज तक हिन्दू समाज के बड़े हिस्से में बद्धमूल है।"[4]

आज तक दलित-साहित्य के मान्य प्रतिमान तय नहीं हो पाये हैं। इस दिशा में शरण कुमार लिम्बाले ने 'दलित-साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र' में कुछ प्रतिमानों की चर्चा की है। इस पुस्तक की भूमिका में वे लिखते हैं कि "विश्व में मनुष्य जैसी सत्य और सुन्दर दूसरी कोई चीज़ नहीं है। इसीलिए तो मनुष्य की क्षमता, स्वतंत्रता, न्याय और बंधुत्व की चर्चा होनी आवश्यक है। मेरे विचार से यही चर्चा दलित-साहित्य के 'सौन्दर्य शास्त्र' की चर्चा होगी।"[5] दलित-साहित्य के प्रतिमानों में मार्क्सवादी विचारधारा भी योगदान देती है। मार्क्सवादी विचार मानव-मानव को समान तथा आर्थिक संसाधनों पर समान वितरण का सिद्धांत प्रतिपादित करता है तथा वर्ग (मजदूर और बुर्जुवा) की अवधारणा में शोपक-शोपित की वात करता है। इस आर्थिक और राजनीतिक प्रगतिवादी विचारधारा की बात मराठी का दलित-साहित्यकार तो करता है, लेकिन हिन्दी का दलित-साहित्यकार उससे किनारा कर लेता है; क्योंकि उसे यह महसूस होता है कि भारतीय साम्यवाद, ब्राह्मणवाद और सामन्तवाद एक पारस्परिक संगठन है जो ऊपर से साफ सुथरा दिखता है, परन्तु अन्दर से वह शुद्ध वेगारवाद और शोपणकारी यंत्र है।

कुल मिलाकर वैचारिक स्तर पर दलित-साहित्य एक यथार्थवादी चिंतन है जो निषेध, नकार और विद्रोह की विशेषताओं को समेटे हुए है। अर्थात् दलित-साहित्य चार्वाक, तथागत बुद्ध, कबीर-रैदास-चोखामेला, फुले-अम्बेडकर के तर्कशील एवं जनहितैषी, समतावादी, कारुणिक एवं शुद्ध न्यायिक विचारों से अनुप्राणित है। वह पुरातन काल से आधुनिक काल तक थोपी गई अतार्किक मान्यताओं, निर्योग्यताओं, वर्जनाओं, पुरोहितवाद, वर्णवाद, देववाद,

स्मृति-पुराणवाद को सिरे से नकारता है तथा भ्रातृत्व, समानता, स्वतंत्रता, लोकतन्त्र तथा विश्वबन्धुत्व पर विश्वास करता है। अतः दलित-साहित्य एक सार्वभौम जीवनवादी साहित्य है। दलित-साहित्य के परिप्रेक्ष्य में यह प्रश्न अभी तक बरकरार है कि दलित-साहित्य क्या है? क्या दलितों द्वारा लिखा साहित्य ही दलित-साहित्य है अथवा गैर-दलितों द्वारा लिखा साहित्य भी दलित-साहित्य है। वस्तुतः दलित-साहित्य परानुभूति और स्वानुभूति के झूले में झूल रहा है। प्रेमचन्द, निराला, नागार्जुन, धूमिल, जगदीशचन्द्र, राहुल सांकृत्यायन आदि अनेक गैरदलित साहित्यकारों ने दलित समस्याओं को केन्द्र में रखकर साहित्य रचा है, जो सहानुभूतिपूर्ण तो है, यथार्थ के निकट भी है, पर वह उतना तार्किक और आक्रोशपूर्ण नहीं है, जिसकी अपेक्षा दलित समाज चाहता है। वहीं दूसरी तरफ शरणकुमार लिम्बाले, सुशीला टाकभौरे, ओमप्रकाश वाल्मीकि, जयप्रकाश कर्दम, सूरजपाल चौहान, मोहनदास नैमिशराय, कौसल्या बैसन्त्री, श्यौराजसिंह बेचैन जैसे दलित-साहित्यकारों में सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक विद्रोह की आग है, जिसकी तपन से अयार्थवादी, काल्पनिक, पौराणिक, धार्मिक और मनुवादी साहित्य तिरोहित हो रहा है। निष्कर्षतः दलित-जीवन से सम्बद्ध लिखा गया साहित्य दलित-साहित्य ही है, उसे चाहे दलित लिखे या गैर-दलित। यदि गैर-दलित-साहित्यकार भी अपने स्व को तिरोहित कर दलित विवशताओं का अनुभव करते हुए खुद के (उच्चवर्गीय) समाज की निरर्थक सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक श्रेष्ठताओं को चुनौती देता है, और दलितों के जीवन से सौमनस्य स्थापित कर समतावादी साहित्य का सृजन करता है, तब उसे दलित-साहित्य ही कहना चाहिए।

उत्तर-आधुनिकता 1960 के दशक में अस्तित्ववाद के बाद फ्रांस का सर्वाधिक प्रभावित करनेवाला चिंतन है, जिसने भारतीय दलित-साहित्य को भी प्रभावित किया है। "अस्तित्ववाद जहां एक तरफ इतिहासवाद के बहाने मार्क्सवाद का विरोध करता है, वहीं दूसरी तरफ मानवतावाद के बहाने अस्तित्वाद का।"[6] इस अस्तित्ववाद का प्रभाव भारत के दलित-साहित्य पर भी पड़ा है। दलित जाति जो सदैव शोषित, गुलाम और अधिकारहीन रही है, वह लोकतांत्रिक प्रश्रय में बुद्ध-फुले-अम्बेडकर के विचार-चिंतन से उद्‌भूत होकर अपने वास्तविक अस्तित्व को बरकरार रखना चाहती है। कभी-कभी अस्तित्ववाद राजनीतिक और सामाजिक विमर्श का केन्द्र भी बन जाता है। "दलित-साहित्य एक साहित्यिक विमर्श ही नहीं है बल्कि यह एक सामाजिक पद्धति को समझने की कोशिश भी है, जहां सिर्फ जाति के आधार पर एक पूरे समूह को अस्पृश्य मान लिया जाता है।"[7] उत्तर-आधुनिकता के युग में विकेन्द्रीकरण की अवधारणा समाहित है जो रचना के साथ-साथ समाज और सामाजिक संबंधों की पुर्नव्याख्या की माँग करती है। इसलिए कि शासक समुदाय अथवा बुद्धिजीवी समाज साहित्य और कला के क्षेत्र में आरंभ से ही केन्द्रीय परम्परा बनाए रखना चाहते हैं। इस केन्द्रीय परम्परा को जिस भी साहित्यिक आंदोलन ने विकेन्द्रीकृत करने की कोशिश की है, उसे आलोचना, दमन और विरोध का कुत्सित साहित्यिक आन्दोलन करार दिया गया है। वर्तमान का हिन्दी दलित-साहित्य केन्द्रीय परम्परा के लेखकों द्वारा एकांगी, वर्ण-भेदी और तुच्छ करार दिया गया है; क्योंकि वह परम्परागत अधिकारों, दकियानूसी विचारों, असमानताओं, आडम्बरों, पाखण्डों और भेदक साहित्य को चुनौती देता है तथा समानता, स्वतंत्रता, विकेन्द्रीकरण, लोकहित, धर्मनिरपेक्षता, तार्किकता, बौद्धिकता एवं लोकतंत्र में विश्वास करता है।

साहित्यिक लेखन में आत्मकथात्मक अभिव्यक्ति निजता की पुकार है। निजत्व का सार्वजनीकरण कर साहित्यकार जीवन-इतिहास के यथार्थ को साफगोई से प्रस्तुत करता है। दलित-साहित्यकारों की अभिव्यक्ति का श्रेष्ठ

साधन आत्मकथा है, जिसमें उसने अपने विचारों, घटनाओं, समस्याओं, विरोधों, समझौतों को धरातल पर प्रस्तुत किया है। जूठन (ओमप्रकाश वाल्मीकि), अपने-अपने पिंजरे (मोहनदास नैमिशराय), दोहरा अभिशाप (कौशल्या बैसंत्री), अक्करमाशी (शरण कुमार लिंबाले), अछूत (दया पवार) जैसी आत्मकथाओं ने अभिजात्यवर्गीय समाज को दलित-जीवन के प्रति सोचने को मजबूर कर दिया है। जिस तरह से सामाजिक जीवन में ब्राह्मणवाद ने पवित्रता और उत्कृष्टता का पैमाना गढ़ा है, लागू किया है; उसे वह साहित्यिक संसार में भी लागू कराना चाहता है। हाशिये का समाज थोपी गई पवित्रता और उत्कृष्टता से प्रताड़ित रहा है। वह पेट भरने के लिए अपवित्र, दूषित, वर्जित, अखाद्य को भी आहार में लेने को मजबूर रहा है। वह सवर्णों में जन्मजात उत्कृष्टता और स्वजनों में निकृष्टता निहारता रहा है; क्योंकि उसके लिए यही पैमाने ब्राह्मणवाद ने गढ़े थे। आज जब वही दलित-साहित्यकार अपनी आत्मकथाओं में उसी भोगे हुए यथार्थ को, दलित संस्कृति को, बेहद कड़क और अमर्यादित शब्दों में प्रस्तुत करता है, तब उस साहित्य को घटिया या वासलेटी साहित्य से नवाजा जाता है और उसके सौन्दर्यशास्त्र पर प्रश्नचिन्ह लगाए जाते हैं। स्वाभाविक है कि साहित्यकार जिस परिवेश एवं संस्कृति में पला-बढ़ा होगा, उसका चित्रण करना उसकी लाजिमी है। दलित-पीड़ा को लेकर जापान के एताओं और भारत के दलितों में जबरदस्त समानता है। 'जूठन' में दलित (भारत) और 'हाकाई' में एता (जापान) बराबरी से शासक, अभिजात्य, पुरोहित, ब्राह्मणवाद के शिकार होते हैं।

सभी दलित साहित्यिक विधाओं में 'आत्मकथा' विधा विशेष उल्लेखनीय है। इस विधा में रचनाकार अपने अतीत के स्वबोध को विस्तृत फलक प्रदान करने में सक्षम होता है। वह जीवन के उन तमाम झंझावातों, घटनाओं, मनोदशाओं, सामाजिक पीड़ाओं, विषमताओं, अभावों और दुःख-सुख को बड़ी साफगोई से रूचिपूर्ण व्यापकता प्रदान करता है। दलित-साहित्य में सर्वप्रथम भगवानदास की रचना 'मैं भंगी हूँ' प्रकाश में आती है, जो वास्तविक आत्मकथा तो नहीं है, लेकिन पूरे भंगी समाज की सामूहिक सामाजिक आत्मकथा है। सही अर्थों में पहली दलित-आत्मकथा 'अपने-अपने पिंजरे' है, जिसे मोहनदास नैमिशराय ने 1995 में प्रकाशित कराया था। ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' 1997 में और कौशल्या बैसन्त्री की आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' 1999 में प्रकाशित हुई। श्यौराज सिंह बेचैन, सूरजपाल चौहान, कुसुम वियोगी, माताप्रसाद (झोपड़ी से राजभवन) आदि की आत्मकथाएँ भी प्रकाशित हो चुकी हैं। इन आत्मकथाओं में उन चमारों-चूहड़ों की शैक्षणिक, खानपान, रहन-सहन, शारीरिक यंत्रणाओं, मानसिक पीड़ाओं, बेगार, वंचनाओं, विवशताओं, जातिगत जड़ताओं, असुविधाओं, सामन्ती-पुरोहिती शिकंजों, कर्जदारी, सांस्कृतिक पृथकताओं, अस्पृश्यताओं, पारिवारिक झगड़ों, वैवाहिक क्रियाकलापों, प्रेम-प्रसंगों, दलित-नारी-अस्मिता की लूटें, कँगूरेदारों-तिलकधारियों की ऐय्याशियों, राजनीतिक नेता-नगरी की अकर्मण्यताओं को बेबाक उद्‌बोधित किया गया है। 'जूठन' ने तो इतनी गहरी मर्मान्तक वेदना का अहसास कराया कि मनुष्य होने से नफरत होने लगती है। उक्त आत्मकथाएँ मनुष्य के उस चेहरे को प्रतिबिम्बित करती है, जिसे चतुर-चापलूस मनुष्य सदैव से छिपाये रखा है। उक्त आत्मकथाएं मनुष्य के छद्‌मावरण को प्रकाशित करने में सक्षम हैं।

दलित-साहित्य में कहानी विधा पर पर्याप्त लेखन कार्य हुआ है। हिन्दी के दलित-कहानीकारों में ओमप्रकाश वाल्मीकि, सुशीला टाकभौरे, श्यौराज सिंह बेचैन, अजय नरवरिया, सूरजपाल चौहान, आदि चर्चित नाम हैं। इनकी कहानियाँ दलित-जीवन से सम्बद्ध हैं। वहीं दूसरी तरफ गैर-दलित-कहानीकारों में प्रेमचंद का नाम शिखर पर है। उनकी

कहानियाँ- ठाकुर का कुआँ, सद्गति, मंत्र, दूध का दाम और कफ़न दलित-जीवन की मर्मांतक वेदना को व्यक्त करती हैं। यशपाल, रांगेयराघव, राहुल सांकृत्यायन, राजेन्द्र यादव, भीष्म साहनी, जगदीश चन्द्र, कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, अमरकान्त, ज्ञानरंजन, शैलेश मटियानी, बदीउज्जमा, रमेश बक्षी आदि ने मुख्यधारा के अन्दर शोषितों और वंचितों को अपने कथ्य का आधार बनाया है। दलित-कहानी का मुख्य मकसद परम्परागत विडम्बनाओं, कुप्रथाओं, रूढ़ियों, दलित-दुष्प्रेरण, दलित-उत्पीड़न, अभावों, जमींदारों द्वारा शोषण, ब्राह्मण-पुरोहितों द्वारा अपमानित और वणिक समाज या बाहुबली समाज द्वारा आर्थिक एवं उत्पादन के संसाधनों से विमुख करने के हथकण्डों से समाज को परिचित कराना है। तथागत बुद्ध द्वारा अपनाया गया समानता का आचरण, फुले-अम्बेडकर की शोषितों के लिए न्याय की लड़ाई ने दलित-कहानी को पर्याप्त सम्बल दिया है। स्वतंत्रता-पश्चात् आठवें दशक से दलित-कहानी लेखन का प्रारंभ माना गया है, जब 1975 में सतीश ने 'बचनबद्ध', मोहनराय नैमिशराय ने 'सबसे बड़ा सुख' (1978), और ओमप्रकाश वाल्मीकि में अंधेर बस्ती (1980) कहानियाँ लिखीं।

1990 के दशक से मुख्यधारा की दलित-कहानी प्रारंभ हुई, जिसका कारण बना 1990 का मण्डल-कमीशन। इस कमीशन का सवर्ण जातियों द्वारा निरंतर विरोध किया गया, जिसके परिणामतः दलित-कहानी-लेखन को पर्याप्त अवसर मिला। मण्डल कमीशन ने जाति और वर्ण की राजनीति पर पलीता लगा दिया। सवर्णों की ढोंगी मानसिकता प्रत्यक्ष होने लगी सवर्ण किसी भी दशा में अपने पुश्तैनी, पारम्परिक, पौराणिक और वंशानुगत अधिकार त्यागने को तैयार नहीं हुए, जिनकी घोषणाएँ वे बाहरी तौर पर किया करते थे। दलित-कहानी अपने यथार्थ में सर्वसमावेशी व्यवस्था को धारण किये है। वह मनुस्मृति की पाबंदिया नहीं झेलना चाहती है। स्वच्छन्द वातावरण में स्वच्छंद विचरण करना उसका उद्देश्य है। जबकि मनुस्मृति या अन्य पौराणिक ग्रन्थ वंचित-समाज, असहाय, बेरोजगार, अस्पृश्यता-भोगी को नारकीय जीवन के लिए विवश करते हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'सलाम' उस व्यवस्था को चुनौती देती है जिसमें दलित-समाज सांस्कृतिक और परम्परागत रूप से उच्च-समाज तथा जमींदारों को आये दिन विभिन्न अवसरों पर (जन्म, विवाह, पर्व) सलाम ठोकने को विवश था। कुल मिलाकर दलित कहानियों में परम्परा का विरोध भरा पड़ा है। साथ ही साथ शिक्षित होकर एक अच्छा इंसान बनने की चाहत भी है। दलित-कहानी के पात्र जाति, वर्ण, वंश, तिरस्कार, गरीबी, प्रताड़ना, अस्पृश्यता, गैरबराबरी, असभ्यजीवन, ग्रामीण-जीवन से पलायन करने में विश्वास करता है। वह राजनीतिक और सामाजिक जिम्मेदारी भी निभाना चाहता है, जिसे सवर्ण समाज पग-पग पर बरगलाता है, अपमानित एवं पथभ्रष्ट करने की चेष्टा करता है।

हिन्दी उपन्यास लेखन 1877 में प्रकाशित श्रद्धाराम फुल्लौरी के उपन्यास 'भाग्यवती' से प्रारंभ होता है। प्रारंभ में गैरदलित उपन्यास ही मुख्यधारा में रहे हैं, जिसमें यदाकदा दलित-जीवन पर प्रकाश डाला गया है। उपन्यासों में दलित-विमर्श को कथ्य-विषय बनाया है तो अधिकतर प्रेमचंद ने। हिन्दी में दलित उपन्यास की संख्या सीमित है। रामजी लाल सहाय (बंधनमुक्त), जयप्रकाश कर्दम (छप्पर), डी.पी. वरुण (अमर ज्योति), प्रेम कपाड़िया (मिट्टी की सौगन्ध), सत्यप्रकाश (जसतस भई सवेर), के. नाथ (पलायन), अजय नरवरिया (उधर के लोग) आदि कुछ दलित उपन्यासकार हैं जिन्होंने जातिव्यवस्था, अस्पृश्यता, दलित-अस्मिता, दलितों का आर्थिक दमन, दलित-मत का राजनीतिक लाभ, यज्ञ-हवन आदि में दलितों की निर्लिप्तता आदि विषयों को उपन्यासों में उठाया है। वास्तव में औपनिवेशिक

भारत और उससे मुक्ति के आंदोलनों के दौरान डॉ. अम्बेडकर के जीवनदर्शन और विचारधारा ने जिस अज्ञानता, अशिक्षा को दलित समाज के शोषण, दमन और उपेक्षा का वास्तविक कारण घोषित किया था, उसे हिन्दी में प्रकाशित दलित-उपन्यासों ने कथा का मुख्य आधार बनाया है। दलित उपन्यासकारों का मानना है कि ज्ञान की परम्परा से वंचित रहने के कारण ही दलित-समाज, भारतीय सामाजिक व्यवस्था में निम्नतर जिंदगी व्यतीत करने को विवश रहा है। यह अशिक्षा ही है जो उन्हें गुलामी की यातना भोगने को विवश करती है।

हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में दलित-आलोचना का भी अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है। परम्परागत आलोचनाओं में रस, भाव, विचार, अलंकार, परम्परा, पौराणिक आख्यान, प्रबंधकों की टीकाएँ, ध्वनि, औचित्य, वक्रोक्ति आदि को शास्त्रीय आधार पर परखा गया है। भारतेन्दु काल में पराधीन राष्ट्र की अस्मिता-बोध मूल्यांकित हुई है। रामचन्द्र शुक्ल शुद्ध ब्राह्मणवादी शास्त्रीय आलोचना को आगे लेकर चले है, जबकि हजारी प्रसाद द्विवेदी ऐतिहासिक-पौराणिक आलोचना के लिए जाने जाते हैं। प्रगतिवादी काल में मार्क्सवाद का प्रभाव पड़ा। परिणामतः मार्क्सवादी आलोचना सामने आई, जिसने वर्ण-विधि पर कार्य किया। उसने शोषक-शोषित का पाठ तो पढ़ाया, लेकिन शोषितों को वास्तविक भारतीय परिवेश एवं समाजशास्त्रीय अवधारणा से पृथक रखकर। निःसंदेह उक्त आलोचना पद्धतियाँ दलित-साहित्य एवं उसके सोच के अनुरूप नहीं रहीं। चूँकि दलित-साहित्य निरंतर सृजित हो रहा है, उसके परीक्षण के लिए कोई न कोई पैमाना होना आवश्यक हो जाता है। दलित-साहित्य के परीक्षण के लिए ओमप्रकाश वाल्मीकि का 'दलित-साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' आलोचनात्मक ग्रन्थ सामने है, जिसके आलोक में दलित-साहित्य परखा जा सकता है। 'दलित-साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' के विधानानुसार सौन्दर्य, कल्पना, बिम्ब, प्रतीक, रूप आदि का महत्व दलित-साहित्य के लिए नहीं हैं, क्योंकि इन आधारों पर खड़ा साहित्य किसी भी समाज के लिए प्रासंगिक नहीं हो सकता है। "साहित्य के लिए वैचारिक, प्रतिबद्धता और वर्तमान की दारुण विसंगतियाँ ही उसे प्रासंगिक बनाती हैं। यदि कबीर आज भी प्रासंगिक लगता है तो वे सामाजिक स्थितियाँ ही हैं जो कबीर को प्रासंगिक बनाती हैं।"[8]

दलित-साहित्य की मीमांसा में प्रेमचंद के साहित्य को सम्मिलित किये बिना दलित-विमर्श अधूरा सा प्रतीत होता है। हालाँकि तमाम दलित-साहित्यकारों, आलोचकों ने प्रेमचंद को दलित विरोधी, करार दिया है, क्योंकि उनका साहित्य शुद्ध दलित-साहित्य नहीं है। उसमें धार तो है, लेकिन उतनी नहीं जिससे पुरोहिती-सामन्ती व्यवस्थाओं की जंजीरों को काटा जा सके। वस्तुतः उसे सहानुभूति का साहित्य कहा गया है। फिर भी प्रेमचंद के साहित्य को दलित-विमर्श के केन्द्र से बाहर नहीं किया जा सकता है। प्रेमचंद की कहानियों में 'ठाकुर का कुआँ', सद्गति, मंत्र, पूस की रात, दूध का दाम, कफ़न तथा उपन्यासों में रंगभूमि, गबन, कायाकल्प और गोदान में दलित जीवन को अधिक निकटता से देखा जा सकता है। प्रेमचंद का दलित-जीवन से सम्पृक्त साहित्य गाँधी और अम्बेडकर के परितः घूमता है। हालाँकि प्रेमचन्द गाँधीवादी थे। वे गाँधी के हरिजन प्रेम से परिचालित भी नज़र आते हैं। जिस तरह गाँधी जी दलितों को हरिजन बनाए रखकर उन्हें वास्तविक धार्मिक-सांस्कृतिक अधिकारों से वंचित रखना चाहते थे, ठीक उसी तरह प्रेमचन्द भी अपने साहित्य में दलित-अधिकारों, आक्रोश और प्रताड़नाओं की बात तो करते हैं, परन्तु उनका समाधान प्रस्तुत नहीं करते हैं। चूँकि बाबासाहेब अम्बेडकर खुलकर दलितोद्धार के लिए भारत की सांस्कृतिक सत्ता और विदेशी अँग्रेजी सत्ता

के विरूद्ध विगुल फूँक चुके थे, लिहाजा उनके तार्किक और प्रगतिगामी विचारों को प्रगतिशीलियों के लिए साहित्य में स्थान देना लाजिमी हो गया था। इसी का परिणाम है कि प्रेमचंद के साहित्य का झुकाव आदर्शवाद से आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की तरह हो जाता है। अम्बेडकर के चित्र को 1933 के 'हंस' के एक अंक में छापना और गोलमेज सम्मेलन तथा पूना पैक्ट के प्रभाव को साहित्य में स्थान देना प्रेमचन्द की साहित्यिक कला थी।

हिन्दी-काव्यधारा का प्रारम्भ अनेक इतिहासकार ईसा की दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी से मानते हैं उस समय अर्थात् आदिकाल में "गोरखनाथ, सरहपा आदि नाथ-सिद्धों, मध्यकाल में कबीर, रविदास, सहजोबाई, दयाबाई आदि सन्त कवियों ने भारतीय समाज के सर्वाधिक प्रताड़ित हिस्सों (दलितों) को अपनी वाणी द्वारा मानवीय गरिमा प्रदान की।"[9] कबीर निर्गुणकारी संत कवि थे, जिन्होंने बड़े कठोर शब्दों में उस वर्णवाद, जातिवाद, अवतारवाद, अंधश्रद्धावाद, पाखण्ड एवं आडम्बरों का विरोध किया हैं, जो दलित समाज को नीच, अस्पृश्यहीन तथा उच्च जातीय समाज को छद्म-श्रेष्ठ बनाये हुए थे। अर्थात् कबीर के माध्यम से भारतीय दलित-समाज (खासकर उत्तर-भारत) कुछ-कुछ उद्‌बोधित हुआ। कबीरदास के समकालीन संत रविदास ने भी दलित-पीड़ा को काव्य के माध्यम से प्रकाशित किया है। कबीर-रविदास के पश्चात् हिन्दी साहित्य में दलित-कविता के स्वर आधुनिक काल में नवजागरण काल में सुनाई पड़ते हैं, लेकिन सवर्ण कवियों को नहीं, क्योंकि वे तो द्विज-प्रशस्ति के गायक थे। नवजागरण को अपने नाम करने वाले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जगन्नाथदास रत्नाकर, महावीर प्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, शियारामशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, लक्ष्मीधर वाजपेयी आदि कवि शास्त्रीय और पौराणिक आधार पर या तो आम जनमानस को हकीकत से बर्गला रहे थे या कविता-कामिनी के कमनीय कलेवर को सौन्दर्यकारी बनाकर छिप-छिपकर अपनी कामुक भावनाओं को आकार व रंग-रूप दे रहे थे। इन नवजागृत कवियों को हीरा डोम और स्वामी अछूतानन्द की दलित मार्मिक कविताएँ उसी तरह सुनाई नहीं दे रही थीं; जिस तरह से कबीर-रैदास की तार्किक यथार्थ वाणियाँ पश्चगामी कवि तुलसी-सूर को सुनाई नहीं दी थीं।

1914 में सरस्वती में हीरा डोम की कविता 'अछूत की शिकायत' नाम से बिहारी-हिन्दी की भोजपुरी में छपी थी। जिस ईश्वर की, जिस ब्राह्मणवाद की वन्दना द्विज कवि कर रहे थे, उसी समय हीरा डोम और अछूतानन्द इनकी पोलें खोल रहे थे। "हीरा डोम ने दलित-जीवन की पीड़ा का जैसा मार्मिक चित्रण किया है, वह उस समय की भद्र कविता में नहीं मिलता।"[10] वीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के प्रखर कवि अछूतानन्द थे, जो कवि के साथ-साथ नाटककार, पत्रकार, समाज सुधारक भी थे- के कृतित्व एवं विचार से स्वयं बाबा साहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर प्रभावित थे; परन्तु तत्कालीन सवर्ण साहित्यकार, काव्यकार प्रभावित नहीं था; क्योंकि दलित-नवजागरण द्विज साहित्यकारों को स्वीकार नहीं था। स्वामी अछूतानन्द ने अपने काव्य-साहित्य में वर्णवाद, मनुस्मृति, ब्राह्मण, आडम्बर आदि के विरोध में खूब आवाज़ बुलन्द की है। उनकी कविता भूखे, नंगे, अछूत और पीड़ित जनता की कविता थी; क्योंकि वे दलित समाज और संरचना से पूरी तरह जुड़े थे। ठीक इनके उलट सवर्ण भद्र कविता मुख्य-धारा के भरेपेट लोगों की कविता थी, उन्हें परलोक की चिन्ता थी, दलित-दीन, भूखे-नंगे, अस्पृश्य-असहाय की नहीं।

अधिकतर सवर्ण कवि गाँधी-दर्शन के समर्थक और अम्बेडकर दर्शन के विरोधी थे। उन्होंने गाँधी के नज़रिये से थोड़ी-बहुत जगह दलितों को 'हरिजन' के नाम से दी है। हिन्दी काव्येतिहास का प्रगतिवादी साहित्य भी कोई बहुत बड़ा तीर नहीं मार सका क्योंकि वह प्रगतिवादी कार्लमार्क्स के साम्यवाद से परिचालित था; जो बात तो दीन-दुखियों की करता था, समानता का ढोल पीटता था, पर काम सवर्णहित का करता था। शोषक और शोषित सिर्फ दो ही सैद्धान्तिक वर्ग उसे मान्य थे। वह भी गाँधी के वर्णवाद की तरह पौराणिक काल्पनिक-मिथकीय आचारों को बनाये रखकर समानता चाहता था जो संभव न हो सका। दलित-साहित्य यदि सम्पन्न और विस्तारित हुआ है तो बुद्ध-कबीर-रैदास के विचारों से और फुले-अम्बेडकर, शाहू-पेरियार के तार्किक-बौद्धिक विचारों, आंदोलनों और दलित-हितैषी कार्यों से। अम्बेडकर के परिनिर्वाण के पश्चात् मराठी भाषा में दलित-कविता का लेखन प्रचुर मात्रा में हुआ है। लेकिन हिन्दी भाषा में दलित - कविता बीसवीं शताब्दी के आठवें-नवें दशक में सुनाई पड़ती है। "दलित कविता, सिर्फ इसलिए दलित कविता नहीं है कि वह दलित जीवन से जुड़ी है, बल्कि वह इसलिए भी दलित कविता है कि उसने शोषण करने वाली व्यवस्था को बेनकाब किया है। वह न सिर्फ राजसत्ता से बल्कि धर्मसत्ता से भी टक्कर लेती है।"[11]

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और इक्कीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जितना दलित-साहित्य रचा गया है, उसमें मुक्तक और प्रबंध दोनों तरह का है। दलित-कवियों का काव्य-विषय ज्यादातर विद्रोही, क्रान्तिकारी है। वह तिरस्कृत, पीड़ित, अस्पृश्य, वंचक, दलित पात्रों को अपना काव्य-नायक बनाता है, जो पुरातनकाल से शम्बूक, शबरी, निषाद, अहल्या, सीता, एकलव्य, कर्ण के रूप में द्विज साहित्य में उपेक्षित रहे हैं। दलित-साहित्यकार डॉ. अम्बेडकर-फूले-पेरियार को केन्द्र में रखकर परिवर्तनकारी, क्रांतिकारी साहित्य की सर्जना करता है। प्रमुख दलित कवियों में ओम-प्रकाश वाल्मीकि (सदियों का संताप, बस्स! बहुत हो चुका), मलमान सिंह (सुनो ब्राह्मण), डॉ. एन. सिंह (दर्द के दस्तावेज़), सुशीला टाकभौरे (यह तुम भी जानो), कुसुम वियोगी (व्यवस्था के विषधर), और सी.बी. भारती (आक्रोश) आदि अनेक ऐसे नाम हैं जिन्होंने कविता में वास्तविक यंत्रणाओं, विभीषिकाओं का बेलाग बखान किया है और असमानता-पोषक व्यवस्था को जमकर खरी-खोटी सुनाई है तथा व्यवस्था-परिवर्तन की इच्छा व्यक्त की है। जयप्रकाश कर्दम की कविता 'किले', जयप्रकार लीलवान की 'बारूद का गोदाम', श्यौराज सिंह बेचेन की 'क्रौंच हूँ मैं', मोहनदास नैमिशराय की 'सच वही है', 'झाड़ू और कलम', असंगघोष की 'धर्म! तुम्हें तिलांजलि देता हूँ', सी.बी. भारती की 'ईश्वर नहीं है', सुशीला टाकभौरे की 'सुनो विक्रम', रजनी तिलक की 'बुद्ध चाहिए युद्ध नहीं', विपिन विहारी की 'प्रयोगशालाओं के गाँव', नवेन्दु महर्षि की 'एक अपाहिज धर्म', सुखवीर सिंह की 'बयान बाहर', मुकेश मानस की 'भ्रम मत पालो', अशोक भारती की 'ब्राह्मणवाद का विनाशक', शांति यादव की 'उधार की जिंदगी' और कँवल भारती की 'तव तुम्हारी निष्ठा क्या होती' तथा 'शम्बूक' आदि दलित कवियों की काव्य-रचनाएँ भोगे हुए यथार्थ को, अंतस की पीड़ा को, मानसिक गुलामी को, रौंदी गई अस्मिता को, और पेट बाँधकर सोये गये दलितों- अस्पृश्यों, शूद्रों की कथा-व्यथा को बड़े ही मार्मिक और तर्कपूर्ण ओजस्विता से सवर्ण समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया है। दलित-काव्यधारा ने समाज में एक नयी चेतना का विकास किया है। जो शिक्षित-बुद्धिजीवी दलित

समाज कल तक जहाँ दब्बूपना से ग्रसित था; आज वह खुलकर तर्कवाद, अम्बेडकरवाद, बुद्धवाद, समानतावाद, लोकतंत्रवाद के पक्ष में तनकर खड़ा है; वह पुराणवाद, स्मृतिवाद, कर्मकाण्डवाद, अभिजात्यवाद, पाखण्डवाद, ईश्वरवाद, आत्मावाद, पुनर्जन्मवाद, जातिवाद को शिरे से नकारने के लिए कमर कस चुका है।

सन्दर्भ :

1. देवेन्द्र चौबे, आधुनिक साहित्य में दलित विमर्श, ओरियंट ब्लैकस्वॉन, प्राइवेट लिमिटेड, 1/24 आसफ़ अली रोड़, नई दिल्ली, 2009, पृ.54
2. वही, पृ.56
3. प्रो. चमनलाल, दलित-साहित्य का मूल्यांकन, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली-6, 2012, पृ.14
4. वही, पृ.14
5. वही, पृ.14
6. देवेन्द्र चौबे, आधुनिक साहित्य में दलित विमर्श, ओरियंट ब्लैकस्वॉन, प्राइवेट लिमिटेड, 1/24 आसफ़ अली रोड़, नई दिल्ली, 2009, पृ.68
7. वही, पृ.69
8. वही, पृ.197
9. प्रो. चमनलाल, दलित-साहित्य का मूल्यांकन, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली-6, 2012, पृ.55
10. कंवल भारती, दलित निर्वाचित कविताएँ, फरवरी 2012, साहित्य उपक्रम, अर्पित प्रिंटोग्राफर दिल्ली-32, पृ.14
11. वही, पृ.23

❖ ❖ ❖